सुनीता मलिक सोलंकी

अपना पैसा!

वह काटती घास
देखती मैं उसे अक्सर
अपने ही आस-पास
सुस्ताने के वास्ते
कभी पल भर रुक
कर लेती हमसे बात
कभी सुलगा कर बीड़ी
कश खींचती दो चार
हूं बेटों बहूओं से त्रसित
रोटी मिलती गिन गिन
अपनी कमाई अपने हाथ
जब तक जीना है
खपाना पड़ेगा गात
कौन किसी का यहां
जब अपने जन्मे भी
करते हों पक्षपात !

ये माँ का, ये हमारा है
माँ समझ न पाई ये बात
'हमारे' से बेटे का
मतलब?
क्या इनकी बातों का
भाव!
जब माँ लेती यह जान
उस दिन से हरेक बात से
खुद को रखती अनजान
जब मरते दम तक
कमा कर ही खाना है
इसी तरह जी जीकर
एक दिन मर जाना है।
तो फिर लाग-लपेट
रिश्तों का कैसा
सबका अपना अपना
पैसा!

प्रभात वंदन

प्रभात वंदन;
प्रकृति तू भी कितने
सलीके से दायरे बनाती है!
आग से दहकते
इस ज्वाल को कैसा गोलाकार
दिखाती है!
सोचती हूँ दहकता अंगार
है तो ...फिर
आड़ा /तिरछा /लम्बा
बेढंग से आकार में भी तो
जल सकता था!
मगर नहीं..
हे प्रकृति तेरे द्वारा
सभ्य किया गया यह
संस्कारवान सूरज कितना
गोलाकार चमकता है!
जैसे परकार धर कर
बनाया तूने इसका दायरा
कि - इससे बाहर कभी नहीं
बस जलना है तो कुछ यूँ जल
कि खूबसूरत लगे
दूसरी दुनिया को तू...!
कैसे किया इस आग को
इतना सभ्य तूने...
अचम्भित, अचम्भित, अचम्भित
हूँ कि-
इस आग के गोले से
तू जीवन बचाती है !
मगर कहाँ लटका रखती है
इसे?
ये आग का गोला कहाँ
तैरता होगा और
कौन से वातावरण के
किस वातायन से
झाँक झाँक कर यह
प्राणियों को जीवन देता होगा?
इसकी कैसी जिम्मेदारी कि
रोज सुबह है जग को उठाए
लहलहाती फसलें
तरह तरह के फूल खिलाए!
अपनी सारी धनसंपदा
जल जल कर बस
ओरों के जीवन पर ही लुटाए
देर शाम जब थक जाए तो
समुन्दर के रास्ते से
जाने कहाँ जाए!
सुना है कहीं और जा
चमकता है
बस जलता ही रहता है
बुझना इसका काम नहीं
इतनी सकारात्मक सी
ऊर्जा भला कहाँ से लाता है!

 ISSN:2583-8849